रूढ़िमुक्ति से राष्ट्र-निर्माण: विनायक दामोदर सावरकर के सामाजिक विचारों और उनके राष्ट्रवाद के अंतर्संबंध का एक अध्ययन

डा घनश्याम दुबे
सह-अध्येता, भारतीय उच्च अध्ययन संस्थान
शिमला हिमाचल प्रदेश

प्रस्तावना (Introduction)

बीसवीं सदी के पूर्वार्ध का भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन केवल औपनिवेशिक सत्ता के विरुद्ध एक राजनीतिक और सैन्य संघर्ष नहीं था, बल्कि वह आंतरिक रूप से भारतीय समाज के पुनर्गठन, आत्म-अन्वेषण और तीव्र आधुनिकीकरण का एक सघन दौर था। इस कालखंड में राष्ट्रवाद की कई धाराएँ समानांतर रूप से प्रवाहित हो रही थीं, जिनमें विनायक दामोदर सावरकर द्वारा प्रतिपादित 'हिंदुत्व' का दर्शन एक अत्यंत प्रभावशाली, जटिल और विवादास्पद वैचारिक धुरी बनकर उभरा। मुख्यधारा के औपनिवेशिक, राष्ट्रवादी और यहाँ तक कि मार्क्सवादी इतिहास-लेखन में भी सावरकर के संपूर्ण बौद्धिक जीवन को प्रायः एकरसता के चश्मे से देखा गया है, जहाँ उन्हें या तो एक उग्र राजनीतिक सिद्धांतकार के रूप में सीमित कर दिया गया या फिर केवल एक सशस्त्र क्रांतिकारी के रूप में (Jaffrelot, 1996)। प्रचलित सावरकर-विमर्श का एक उल्लेखनीय दोष यह है कि उसने उनके वैचारिक अवदान के उन आयामों को गौण बना दिया, जो सामाजिक पुनर्गठन, विज्ञाननिष्ठ चिंतन तथा जन्माधारित जाति-व्यवस्था के प्रतिरोध से संबद्ध थे। सावरकर का राष्ट्रवाद अत्यधिक भौतिकवादी, इतिहास-सापेक्ष, व्यावहारिक और भू-राजनीतिक था। अंडमान की सेल्युलर जेल की कालकोठरी से छूटने के बाद, जब सावरकर को रत्नागिरी में नजरबंद किया गया, तब उन्होंने भारतीय इतिहास के उत्थान और पतन का जो गहरा समाजशास्त्रीय विश्लेषण किया, उसने उनके राजनीतिक दर्शन को एक नया धरातल दिया (Sampath, 2021)। उन्होंने यह निष्कर्ष निकाला कि भारत को जितने लंबे समय तक विदेशी दासता झेलनी पड़ी, उसका मूल कारण बाहरी आक्रमणकारियों की सैन्य श्रेष्ठता उतनी नहीं थी, जितनी कि हिंदू समाज की आंतरिक दुर्बलता, सामाजिक विखंडन और जन्म-आधारित ऊंच-नीच की सड़ी-गली व्यवस्था थी। अतः, सावरकर के लिए सामाजिक सुधार केवल एक नैतिक, मानवीय या धार्मिक सुधार का सामान्य एजेंडा नहीं था, बल्कि वह एक शक्तिशाली, आधुनिक और अभेद्य 'हिंदू राष्ट्र-राज्य' के निर्माण की पहली अनिवार्य सामरिक और भू-राजनीतिक शर्त थी (Keer, 1970)।

सावरकर के सामाजिक विचारों और उनके राजनीतिक राष्ट्रवाद के बीच के संबंध को हमेशा एक कृत्रिम विभाजन के तहत देखा गया है, जो इस विषय पर एक बड़ा शोध-अंतराल निर्मित करता है। विद्वानों ने सावरकर के सामाजिक सुधारों को उनके समग्र राष्ट्रवादी और सामरिक एजेंडे के साथ पूरी गहराई से जोड़कर देखने का बहुत सीमित प्रयास किया है। वामपंथी और उदारवादी विचारक प्रायः उनके सामाजिक सुधारों को उनके 'बहुसंख्यकवादी राजनीतिक एजेंडे' को छिपाने का एक रणनीतिक आवरण मानते हैं (Sharma, 2003), जबकि दक्षिणपंथी विचारक उनके सामाजिक दर्शन का उपयोग उन्हें एक दोषरहित और आदर्श समाज-सुधारक सिद्ध करने के लिए करते हैं। इन दोनों अतिवादी दृष्टिकोणों से परे जाकर एक संतुलित, वैज्ञानिक और आलोचनात्मक

मार्ग चुनने की आवश्यकता है। सावरकर ने जिस तरह से 'सात बेड़ियों' (सप्त बद्धता) को तोड़ने की वकालत की, गाय को पूजनीय के बजाय उपयोगी पशु माना और धर्मग्रंथों की अपरिवर्तनीय सत्ता को खारिज किया—वह उनकी एक 'वैकल्पिक आधुनिकता' की खोज थी (Savarkar, 1963)। सावरकर का यह दृष्टिकोण उन्हें इतिहास के एक ऐसे चौराहे पर खड़ा करता है जहाँ वे पारंपरिक रूढ़िवादिता के सबसे बड़े शत्रु बनकर उभरते हैं, क्योंकि उनका मानना था कि अतीत के प्रति अंधश्रद्धा राष्ट्र की सामरिक क्षमता को पंगु बना देती है। इसलिए, उनके राष्ट्रवाद के समाजशास्त्र में स्वतंत्रता का संघर्ष और सामाजिक रूढ़ियों के खिलाफ युद्ध साथ-साथ चलते थे, जिसे मुख्यधारा के इतिहास-लेखन में उस गहराई से रेखांकित नहीं किया गया है जिसका वह हकदार है (Misra, 2020)।

सावरकर एक तरफ विज्ञानवाद और तर्कवाद की वकालत करते हैं जो आधुनिक धर्मनिरपेक्षता के करीब दिखता है, लेकिन दूसरी तरफ उनका राष्ट्रवाद पूरी तरह से अतीत के सांस्कृतिक मिथकों और 'पितृभू-पुण्यभू' की सीमाओं से बंधा हुआ है (Bhatt, 2001)। सावरकर की सामाजिक परियोजना का यह अन्वेषण इस बात को भी उजागर करता है कि उनके लिए सामाजिक न्याय अपने आप में साध्य नहीं था, बल्कि वह राष्ट्रीय सुदृढ़ीकरण का एक साधन था।

सावरकर के राष्ट्रवाद का समाजशास्त्र यह स्पष्ट करता है कि उनके लिए 'हिंदू' कोई संकीर्ण धार्मिक पहचान नहीं बल्कि एक व्यापक सांस्कृतिक, ऐतिहासिक और भौगोलिक पहचान थी। उन्होंने 'आसिंधु सिंधु पर्यन्ता' की जो परिभाषा दी, वह हिंदू समाज के भीतर की सभी जन्म-आधारित और वर्ण-आधारित सीमाओं को सैद्धांतिक रूप से ध्वस्त कर देती थी (Savarkar, 2003)। सावरकर ने अनुभव किया कि यदि समाज का एक बहुत बड़ा हिस्सा अछूत और पतित मानकर मुख्यधारा से बाहर रखा जाएगा, तो वह वर्ग राष्ट्रीय सुरक्षा और राष्ट्र-निर्माण में अपनी आहुति देने से विमुख हो जाएगा और अंततः जनसांख्यिकीय रूप से धर्म परिवर्तन की ओर अग्रसर होगा, जिससे राष्ट्र कमजोर हो जाएगा। इस प्रकार, सावरकर का सामाजिक सुधार आंदोलन वास्तव में एक 'सोशल इंजीनियरिंग' की प्रक्रिया थी, जिसका अंतिम उद्देश्य एक ऐसे 'इमेजिंड कम्युनिटी' का निर्माण करना था जो आंतरिक रूप से समरस और बाहरी चुनौतियों के खिलाफ सैन्य रूप से अभेद्य हो (Anderson, 1983)। वे ब्रिटिश भारतीय सेना को एक ऐसी पाठशाला के रूप में देखते थे जहाँ सभी जातियों के लोग एक ही वर्दी पहनकर, एक ही बैरक में रहकर, एक ही थाली में खाकर राष्ट्र के लिए लड़ेंगे, जिससे जातिवाद स्वतः ही समाप्त हो जाएगा और हिंदुओं का सैन्यीकरण भी संभव हो सकेगा (Savarkar, 1971)। अतः, सावरकर की इस विस्तृत प्रस्तावना का मुख्य प्रस्थान बिंदु यही है कि उनके सामाजिक विचार उनके राजनीतिक दर्शन की परिधि नहीं, बल्कि उसका केंद्रक थे।

सैद्धांतिक ढाँचा (Theoretical Framework)

विनायक दामोदर सावरकर के सामाजिक आधुनिकीकरण के विचारों और उनके राजनीतिक राष्ट्रवाद के जटिल अंतर्संबंधों को केवल ऐतिहासिक विवरणों के माध्यम से नहीं समझा जा सकता, बल्कि इसके लिए आधुनिक समाजशास्त्रीय और राजनीतिक सिद्धांतों के एक सुदृढ़ सैद्धांतिक ढांचे की आवश्यकता है। सावरकर के दर्शन को मुख्य रूप से चार प्रमुख सैद्धांतिक सिद्धांतों के आलोक में विश्लेषित किया जाता है: सांस्कृतिक राष्ट्रवाद,

सोशल इंजीनियरिंग थ्योरी, बेनेडिक्ट एंडरसन की 'इमेजिंड कम्युनिटीज', और आधुनिकतावादी सिद्धांत । इन सिद्धांतों का अनुप्रयोग यह समझने में मदद करता है कि कैसे सावरकर ने एक पारंपरिक और विखंडित धार्मिक समाज को एक आधुनिक, सुगठित और राजनीतिक राष्ट्र-राज्य में बदलने की परियोजना तैयार की थी। सावरकर का राष्ट्रवाद पारंपरिक और संकीर्ण धार्मिक सीमाओं को लांघकर 'सांस्कृतिक राष्ट्रवाद' के एक विशिष्ट प्रतिमान का निर्माण करता है, जहाँ राष्ट्र की परिभाषा किसी पूजा-पद्धति या मजहब से नहीं, बल्कि एक साझा संस्कृति, साझा इतिहास, साझा भूगोल और साझी विरासत से तय होती है (Jaffrelot, 1996)। उनके प्रसिद्ध सूत्र 'पितृभू और पुण्यभू' के पीछे यही सांस्कृतिक राष्ट्रवाद काम कर रहा था, जिसने भारतभूमि को केवल एक भौगोलिक टुकड़ा न मानकर एक जीती-जागती सांस्कृतिक इकाई के रूप में कल्पित किया। इस सैद्धांतिक ढांचे के भीतर, सावरकर के लिए जाति-व्यवस्था और अस्पृश्यता जैसी कुरीतियाँ केवल धार्मिक पाप नहीं थीं, बल्कि वे इस सांस्कृतिक राष्ट्रवाद की अखंडता और संप्रभुता के मार्ग में सबसे बड़े अवरोधक थे। जब तक समाज की सांस्कृतिक चेतना आंतरिक भेदों में बंटी रहेगी, तब तक गहरे सामाजिक विभाजनों से युक्त समाज में एक संगठित राजनीतिक राष्ट्र का निर्माण कठिन था (भट्ट 2001)। उनके दृष्टिकोण में राष्ट्र की स्थिरता और सुदृढ़ता तभी सुनिश्चित हो सकती थी जब समाज के विभिन्न वर्ग स्वयं को एक साझा सांस्कृतिक धरोहर के समान अधिकारयुक्त सहभागी के रूप में स्वीकार करें। इस सांस्कृतिक एकीकरण को धरातल पर उतारने के लिए सावरकर ने जिस पद्धति का उपयोग किया, उसे समाजशास्त्र के सिद्धांतों में 'सोशल इंजीनियरिंग' या सामाजिक अभियांत्रिकी के रूप में समझा जा सकता है। रोस्को पाउंड और अन्य आधुनिक विचारकों द्वारा प्रतिपादित सोशल इंजीनियरिंग का सिद्धांत यह मानता है कि समाज की संरचना को तार्किक और वैज्ञानिक उपकरणों के माध्यम से बदला जा सकता है ताकि सामूहिक उद्देश्यों की पूर्ति की जा सके। उनके द्वारा प्रतिपादित 'सात बेड़ियों' (सप्त बद्धता) का विखंडन वास्तव में इसी सोशल इंजीनियरिंग का एक सैद्धांतिक खाका था, जिसके माध्यम से वे समाज के विभिन्न अंगों के बीच के अलगाव को समाप्त कर उन्हें एक नए, समरूप और शक्तिशाली सांचे में ढालना चाहते थे। सावरकर की यह सोशल इंजीनियरिंग केवल समाज को सुधारने के लिए नहीं थी, बल्कि उसका अंतिम राजनीतिक और सामरिक उद्देश्य हिंदुओं को एक ऐसी सुगठित संगठनात्मक शक्ति में बदलना था, जो औपनिवेशिक सत्ता और अन्य समकालीन राजनीतिक चुनौतियों का दृढ़ता से सामना कर सके (Sampath, 2021)।

सावरकर की इस राष्ट्र-निर्माण की परियोजना को समझने के लिए बेनेडिक्ट एंडरसन (1983) की 'इमेजिंड कम्युनिटीज' या कल्पित समुदायों की अवधारणा एक अत्यंत महत्वपूर्ण सैद्धांतिक औजार प्रदान करती है। एंडरसन का तर्क है कि राष्ट्र मूलतः एक कल्पित राजनीतिक समुदाय होता है, क्योंकि उसके सबसे छोटे सदस्य भी अपने साथी नागरिकों को कभी व्यक्तिगत रूप से नहीं जान पाते, फिर भी उनके मन में एक साझी एकता और बंधुत्व की छवि जीवित रहती है। सावरकर जब 'हिंदुत्व' के विचार का प्रतिपादन कर रहे थे, तब वे वास्तव में एक ऐसे ही विशाल और आधुनिक 'इमेजिंड कम्युनिटी' का निर्माण कर रहे थे, जो भारत की भौगोलिक सीमाओं के भीतर रहने वाले सभी पंथों और जातियों को एक सूत्र में पिरो सके। एंडरसन के सिद्धांत के अनुसार, एक सफल कल्पित समुदाय के निर्माण के लिए आंतरिक विभाजनों का अंत होना आवश्यक है। सावरकर ने देखा कि जन्म-आधारित

ऊंच-नीच और छुआछूत की दीवारें हिंदुओं के मन में इस साझी नागरिकता और बंधुत्व की भावना को पनपने नहीं देती थीं। यदि समाज का एक बहुत बड़ा वर्ग अछूत और उपेक्षित महसूस करेगा, तो वह स्वयं को इस कल्पित समुदाय का हिस्सा कभी नहीं मान पाएगा। अतः, रत्नागिरी काल में सावरकर द्वारा किए गए सामाजिक प्रयोग—जैसे कि पतित पावन मंदिर की स्थापना, जहाँ सभी जातियों को समान अधिकार था, और अंतर्जातीय सह-भोज—वास्तव में इस 'इमेजिंड कम्युनिटी' को मानसिक और व्यावहारिक धरातल पर जीवंत करने के प्रयास थे (Misra, 2020)।

इस सैद्धांतिक ढांचे का चौथा और अंतिम स्तंभ 'आधुनिकतावादी सिद्धांत' है, जो पारंपरिक समाजों के तार्किक, वैज्ञानिक और औद्योगिक समाजों में रूपांतरण की वकालत करता है। सावरकर को एक पारंपरिक या पुनरुत्थानवादी विचारक के रूप में देखना भारी भूल होगी; वे मूलतः एक कट्टर आधुनिकतावादी और विज्ञानवादी थे। उनका राष्ट्रवाद अतीत के अंधानुकरण पर नहीं, बल्कि भविष्योन्मुखी वैज्ञानिक दृष्टिकोण पर आधारित था (Sharma, 2003)। आधुनिकतावादी सिद्धांत के अनुसार, कोई भी राष्ट्र तब तक वैश्विक प्रतिस्पर्धा में नहीं टिक सकता जब तक वह मध्ययुगीन धार्मिक रूढ़ियों, अंधविश्वासों और अप्रासंगिक धर्मग्रंथों की सत्ता से मुक्त न हो। सावरकर ने इस सिद्धांत को पूरी तरह आत्मसात किया था; उन्होंने स्पष्ट घोषणा की थी कि यदि कोई प्राचीन स्मृति या श्लोक आधुनिक विज्ञान और राष्ट्र की प्रगति के आड़े आता है, तो उसे तुरंत त्याग दिया जाना चाहिए (Savarkar, 1963)। गाय के प्रति उनका उपयोगितावादी दृष्टिकोण और तकनीकी व सैन्य आधुनिकीकरण पर उनका जोर इसी आधुनिकतावादी सोच का परिणाम था। वे पश्चिम के 'नेशन-स्टेट' के उस सैन्य और औद्योगिक मॉडल से अत्यधिक प्रभावित थे जिसने दुनिया पर राज किया था। सावरकर की यह 'वैकल्पिक आधुनिकता' एक ऐसा मॉडल थी, जहाँ तकनीक और सामाजिक समानता का ढांचा आधुनिक पश्चिमी विचारों से लिया गया था, लेकिन उसकी आत्मा और पहचान को हिंदुत्व की सांस्कृतिक विरासत से जोड़ा गया था (Bakhle, 2015)।

इस प्रकार, सांस्कृतिक राष्ट्रवाद, सोशल इंजीनियरिंग, इमेजिंड कम्युनिटीज और आधुनिकतावादी सिद्धांतों का यह समन्वित सैद्धांतिक ढांचा यह पूरी तरह से स्पष्ट कर देता है कि सावरकर के सामाजिक विचार उनके राष्ट्रवाद से अलग कोई स्वतंत्र धारा नहीं थे, बल्कि वे एक आधुनिक, समरस और शक्तिशाली राष्ट्र-राज्य के निर्माण की एक ही सुविचारित और रणनीतिक परियोजना के विभिन्न वैचारिक घटक थे।

सावरकर की राष्ट्रवादी अवधारणा

सावरकर का राष्ट्रवाद पारंपरिक, मध्ययुगीन और संकीर्ण पंथ-आधारित सीमाओं को पूरी तरह से लांघकर एक व्यापक, बहुआयामी और अखंड भू-सांस्कृतिक तथा ऐतिहासिक पहचान का निर्माण करता है, जिसे उन्होंने 'हिंदुत्व' शब्द के रूप में अकादमिक और राजनीतिक विमर्श में प्रतिपादित किया। सावरकर ने इस वैचारिक प्रस्थान बिंदु पर विशेष बल दिया कि 'हिंदुत्व' शब्द 'हिंदू धर्म' की तरह किसी विशिष्ट मत, संप्रदाय, पंथ, पूजा-पद्धति या थिओलॉजिकल दर्शन तक कतई सीमित नहीं है, बल्कि यह एक संपूर्ण सभ्यता, साझी संस्कृति, संचित इतिहास, भाषा, सामाजिक संगठन और राष्ट्रीय नागरिकता की सामूहिक चेतना का प्रतिनिधित्व करता है। उनके

राष्ट्रवाद का मूल स्तंभ एक अत्यंत प्रसिद्ध और व्यापक सूत्र के माध्यम से अभिव्यक्त होता है, जिसके अनुसार वह प्रत्येक व्यक्ति इस राष्ट्र का स्वाभाविक, वैधानिक और ऐतिहासिक नागरिक है जिसकी भारतभूमि 'पितृभू' और 'पुण्यभू' दोनों है (Savarkar, 1923)। यहाँ 'पितृभूमि' का अर्थ उस साझा रक्त-संबंध, नस्ल, पूर्वज और साझा इतिहास से है जिसने सदियों से इस प्रायद्वीपीय भूमि पर अपनी अनूठी सभ्यता का निरंतर विकास किया है, जबकि 'पुण्यभूमि' का अर्थ उस विशिष्ट धरा से है जहाँ व्यक्ति के पूजनीय नायक, पैगंबर, ऋषि, सांकेतिक इतिहास, स्मृतियाँ, त्योहार और धार्मिक चेतना के मूल स्रोत अविभाज्य रूप से विद्यमान हैं (Sharma, 2003)। इस भौगोलिक और दार्शनिक परिभाषा के तहत सावरकर ने तात्कालिक भारतीय उपमहाद्वीप के भीतर रहने वाले सनातनियों, आर्य समाजियों, सिखों, जैनों, बौद्धों और विभिन्न वनवासी व जनजातीय समाजों को एक ही समरूप राष्ट्रीय पहचान के भीतर समाहित कर दिया, क्योंकि इन सभी संप्रदायों की पितृभूमि और पुण्यभूमि इसी भारतवर्ष की सीमाओं के भीतर स्थित थी, जिससे उनकी राष्ट्रीय निष्ठा पूरी तरह अभेद्य हो जाती थी।

सावरकर का यह विशिष्ट दृष्टिकोण भारत को केवल एक 'भौगोलिक भूखंड' या एक कृत्रिम प्रशासनिक इकाई मात्र नहीं मानता था, बल्कि उसे एक सजीव 'सांस्कृतिक राष्ट्रवाद' के रूप में कल्पित करता था। इस सांस्कृतिक राष्ट्रवाद की सबसे बड़ी समाजशास्त्रीय और क्रांतिकारी विशेषता यह थी कि इसने पारंपरिक रूढ़िवादी हिंदू समाज के भीतर की सभी जन्म-आधारित, वर्ण-आधारित, भाषाई और क्षेत्रीय सीमाओं को सैद्धांतिक धरातल पर पूरी तरह से ध्वस्त करने की मांग की (Jaffrelot, 2007)। सावरकर (1949) का दृढ़ मत था कि जो कोई भी इस साझा ऐतिहासिक और सांस्कृतिक विरासत को अपनी संप्रभु पहचान के रूप में स्वीकार करता है, वह इस राष्ट्र का अभिन्न, अपरिहार्य और समान हिस्सेदार है, चाहे प्राचीन सामाजिक पदानुक्रम में उसका स्थान या उसकी जाति कुछ भी क्यों न हो। इस प्रकार, सावरकर का सांस्कृतिक राष्ट्रवाद केवल अतीत के गौरव को ढूंढने वाली कोई पुनरुत्थानवादी धारा नहीं थी, बल्कि वह एक ऐसी व्यावहारिक, आधुनिक और सामरिक राजनीतिक परियोजना थी जो आंतरिक सामाजिक विखंडन को समाप्त करके बहुसंख्यक समाज को एक सुगठित और संप्रभु राष्ट्र-राज्य के रूप में पुनर्गठित करना चाहती थी, जहाँ प्रत्येक व्यक्ति की नागरिकता का मूल्य उसकी जाति से तय न होकर उसकी राष्ट्रीय निष्ठा से तय हो (Bhatt, 2001)।

सावरकर भली-भांति समझते थे कि आधुनिक युग में राष्ट्रों का अस्तित्व और उनकी संप्रभुता केवल अमूर्त दार्शनिक सिद्धांतों या शांतिवादी नारों से सुरक्षित नहीं होती, बल्कि उनकी संगठनात्मक क्षमता, आंतरिक एकता और संख्यात्मक शक्ति से तय होती है। जब ब्रिटिश सरकार और मुस्लिम लीग जैसी ताकतों द्वारा भारत के राजनीतिक परिदृश्य को अलग-अलग मजहबी और सामाजिक समूहों में विभाजित करने की निरंतर नीतियां चलाई जा रही थीं, तब सावरकर ने यह अनुभव किया कि हिंदू समाज की सबसे बड़ी आत्मघाती कमजोरी उसका आंतरिक बिखराव, वर्ग विभाजन और अस्पृश्यता जैसी कुरीतियाँ थीं (Sampath, 2021)। उनका इतिहास बोध यह गवाही देता था कि भारत की सदियों लंबी राजनीतिक परतंत्रता का कारण हिंदुओं की व्यक्तिगत वीरता या युद्ध-कौशल की कमी नहीं थी, बल्कि राष्ट्रीय स्तर पर एक सुगठित और अखंड 'हिंदू संगठन' का सर्वथा अभाव था, जो समाज

की आंतरिक रूढ़ियों, संकीर्णताओं और ऊंच-नीच के भेदभाव के कारण कभी पनप नहीं सका था (Savarkar, 1971)।

अतः, सावरकर की राष्ट्रवादी अवधारणा में सामाजिक सुधार, रूढ़िमुक्ति और जन्म-आधारित जाति-प्रथा का तीखा विरोध उनके सांस्कृतिक राष्ट्रवाद को एक व्यावहारिक राजनीतिक और सैन्य शक्ति में बदलने का एकमात्र अचूक माध्यम था। जब तक प्रत्येक अछूत, शोषित, वंचित और हाशिए पर खड़े वर्ग को यह पूर्ण विश्वास नहीं कराया जाता कि वह इस राष्ट्र की 'पुण्यभूमि' का उतना ही बड़ा स्वामी, रक्षक और उत्तराधिकारी है जितना कि कोई उच्च जाति का व्यक्ति, तब तक एक अखंड और समरस राष्ट्रीय चेतना का निर्माण सर्वथा असंभव था (Misra, 2020)। सावरकर (1967) के अनुसार, राष्ट्रवाद की इमारत सामाजिक विखंडन की नींव पर कभी खड़ी नहीं की जा सकती। यदि कोई धर्मग्रंथ या प्राचीन रूढ़ि हिंदुओं को आपस में एक होने से रोकती है, तो उस रूढ़ि को राष्ट्र-निर्माण के बड़े हित में तुरंत त्याग देना चाहिए क्योंकि राष्ट्र की रक्षा ही सर्वोपरि धर्म है। इस प्रकार, सावरकर का राष्ट्रवाद आंतरिक रूप से एक उग्र सामाजिक आधुनिकीकरणवाद और उपयोगितावाद की मांग करता था, जहाँ राष्ट्र की संप्रभुता, सुरक्षा और अखंडता की वेदी पर मध्ययुगीन जातिगत पदानुक्रम, संकीर्ण अंधविश्वासों और धार्मिक रूढ़ियों की पूर्ण बलि देना न केवल न्यायसंगत बल्कि ऐतिहासिक रूप से अनिवार्य माना गया था (Bakhle, 2015)।

जाति-व्यवस्था की आलोचना और राष्ट्रीय एकता

विनायक दामोदर सावरकर के राष्ट्रवादी दर्शन का सबसे आक्रामक और व्यावहारिक पक्ष जन्म-आधारित जाति-व्यवस्था और उसके कारण उत्पन्न सामाजिक पदानुक्रम की तीखी आलोचना है। सावरकर का इतिहास बोध यह स्पष्ट रूप से रेखांकित करता था कि हिंदू समाज की सदियों लंबी राजनीतिक पराधीनता और आंतरिक पतन का सबसे बड़ा कारण कोई बाहरी सैन्य श्रेष्ठता नहीं, बल्कि जाति-व्यवस्था के कारण उत्पन्न आंतरिक सामाजिक विखंडन था (Keer, 1970)। सावरकर (1963) ने अत्यंत कड़े शब्दों में यह प्रतिपादित किया कि जन्म के आधार पर किसी मनुष्य को श्रेष्ठ या नीच मानना न केवल अमानवीय है, बल्कि यह राष्ट्र-निर्माण की प्रक्रिया में एक आत्मघाती अवरोधक भी है। वे तात्कालिक सनातनी और रूढ़िवादी तत्वों के इस तर्क को पूरी तरह से खारिज करते थे कि जाति-व्यवस्था हिंदू समाज के संरक्षण का एक रक्षा-कवच थी; इसके विपरीत, सावरकर (1971) का मानना था कि जातिवाद ने हिंदुओं की राष्ट्रीय एकजुटता को भीतर से खोखला किया और उन्हें एक राजनीतिक शक्ति के रूप में वैश्विक मंच पर पैर जमाने से रोका।

एक सुदृढ़ राष्ट्रीय संगठन के निर्माण के लिए सावरकर ने हिंदू समाज को अपनी संकीर्ण जातियों के बंधनों से मुक्त होने का आह्वान किया। उनका यह जाति-विरोध केवल सैद्धांतिक घोषणाओं तक सीमित नहीं था, बल्कि उन्होंने हिंदू समाज के भीतर व्याप्त उन 'सात बेड़ियों' (सप्त बद्धता) को पूरी तरह से काट फेंकने की वकालत की, जिन्होंने हिंदुओं को सामाजिक, आर्थिक और बौद्धिक रूप से जकड़ रखा था (Savarkar, 1963)। इन सात बेड़ियों में स्पर्शबंदी (छुआछूत), रोटीबंदी (सह-भोज निषेध), बेटीबंदी (अंतर्जातीय विवाह निषेध), व्यवसायबंदी (जन्म आधारित पेशा तय होना), सिंधुबंदी (समुद्र यात्रा निषेध), वेदोक्तबंदी (धार्मिक ज्ञान पर एकाधिकार) और शुद्धिबंदी

(धर्मांतरित लोगों की वापसी पर रोक) शामिल थीं। सावरकर (1970) का यह अकादमिक और व्यावहारिक तर्क था कि जब तक ये सात बेड़ियाँ हिंदू समाज की आत्मा को जकड़े रहेंगी, तब तक 'हिंदू संगठन' की कल्पना करना पूरी तरह से बेमानी है। एक ऐसे समाज का निर्माण जहाँ एक जाति का व्यक्ति दूसरी जाति के व्यक्ति को छूने से कतराता हो, जहाँ अंतर्जातीय विवाहों और सह-भोजों पर कड़ा प्रतिबंध हो, वह समाज कभी भी औपनिवेशिक ताकतों या समकालीन राजनीतिक चुनौतियों के सामने एक सूत्र में बंधकर खड़ा नहीं हो सकता (Jaffrelot, 1996)। अतः, सावरकर की दृष्टि में राष्ट्रीय एकता की पहली अनिवार्य शर्त इन जातिगत दीवारों को मलबे में तब्दील करना और समाज के प्रत्येक वर्ग के भीतर एक साझी राष्ट्रीय नागरिकता का बोध जगाना था।

इस प्रकार, सावरकर द्वारा की गई जाति-व्यवस्था की आलोचना और उनके द्वारा चलाया गया सामाजिक सुधार आंदोलन वास्तव में उनके 'हिंदू संगठन' की राष्ट्रवादी परियोजना का ही एक अनिवार्य, रणनीतिक और व्यावहारिक विस्तार था, जिसका अंतिम लक्ष्य सामाजिक विखंडन को समाप्त करके एक अजेय और आधुनिक राष्ट्र का निर्माण करना था (Bhatt, 2001)।

अस्पृश्यता उन्मूलन और राष्ट्र-निर्माण

विनायक दामोदर सावरकर के सामाजिक चिंतन तथा राष्ट्र-निर्माण संबंधी वैचारिक प्रतिपादन में अस्पृश्यता का प्रश्न किसी सीमांत सामाजिक समस्या के रूप में नहीं, बल्कि राष्ट्रीय एकीकरण और सामूहिक राजनीतिक सुदृढ़ता के केंद्रीय तत्व के रूप में उपस्थित होता है। सावरकर (1963) ने अस्पृश्यता को हिंदू समाज की गंभीरतम सामाजिक विकृतियों में से एक माना तथा इसे सामुदायिक एकता और राष्ट्रीय संगठन के मार्ग में उपस्थित प्रमुख अवरोध के रूप में चिह्नित किया। इसी कारण उनका राष्ट्रवादी दृष्टिकोण सामाजिक समावेशन और सामुदायिक एकात्मता की आवश्यकता पर विशेष बल देता है। उनके अनुसार, ऐसा समाज जिसमें एक बड़ा वर्ग स्वयं को उपेक्षित, अपमानित अथवा संरचनात्मक रूप से बहिष्कृत अनुभव करता हो, वह बाह्य चुनौतियों अथवा औपनिवेशिक प्रभुत्व के विरुद्ध संगठित राष्ट्रीय चेतना का प्रभावी वाहक नहीं बन सकता (Keer, 1970)।

अतः, सावरकर की दृष्टि में अस्पृश्यता का निवारण केवल एक धार्मिक सुधार या समाज कल्याण की गतिविधि नहीं थी, बल्कि वह हिंदू समाज की जनसांख्यिकीय और सामरिक शक्ति को बचाए रखने की एक अत्यंत महत्वपूर्ण राष्ट्रवादी सोशल इंजीनियरिंग थी (Jaffrelot, 1996)।

इस वैचारिक पृष्ठभूमि को व्यावहारिक धरातल पर क्रियान्वित करने के लिए सावरकर ने रत्नागिरी नजरबंदी काल (1924-1937) के दौरान अभूतपूर्व सामाजिक प्रयोग किए, जिनमें सबसे ऐतिहासिक मील का पत्थर वर्ष 1931 में 'पतित पावन मंदिर' की स्थापना था। तात्कालिक दौर में पारंपरिक और सनातनी मंदिरों में तथाकथित अछूत जातियों का प्रवेश पूरी तरह से वर्जित था और रूढ़िवादी ताकतें इस व्यवस्था को धर्म का अनिवार्य अंग मानती थीं। सावरकर (1970) ने इसे कड़ी चुनौती देते हुए एक ऐसे मंदिर का खाका खींचा, जिसके द्वार समाज के सबसे अंतिम पायदान पर खड़े व्यक्ति के लिए भी समान रूप से खुले थे। इस प्रयोग की सबसे क्रांतिकारी विशेषता यह थी कि इसमें न केवल दलित वर्गों को मंदिर में प्रवेश और दर्शन का अधिकार दिया गया, बल्कि उन्हें गर्भगृह में

जाकर मूर्ति की पूजा करने, आरती उतारने और पुरोहित का दायित्व निभाने की पूर्ण स्वतंत्रता दी गई (Sampath, 2021)। सावरकर इस पतित पावन मंदिर के माध्यम से यह प्रतीकात्मक और व्यावहारिक संदेश देना चाहते थे कि राष्ट्रीय एकता के मंदिर में सभी समान रूप से पूजनीय, हैं और इस राष्ट्रभूमि के उत्तराधिकारी हैं। यह प्रयोग रूढ़िवादी शक्तियों के वर्चस्व को तोड़कर एक समरूप राष्ट्रीय समुदाय के निर्माण का एक व्यावहारिक उपकरण था (Bakhle, 2015)।

मंदिर प्रवेश के साथ-साथ सावरकर ने सार्वजनिक संसाधनों तक सभी वर्गों की समान पहुँच सुनिश्चित करने के लिए एक चौतरफा संघर्ष छेड़ा। उनका यह दृढ़ विश्वास था कि जब तक शोषित जातियों को सार्वजनिक कुओं, तालाबों, धर्मशालाओं और विद्यालयों के उपयोग का समान अधिकार नहीं मिलेगा, तब तक राष्ट्रीय बंधुत्व की भावना केवल कागजी दावों तक सीमित रहेगी (Savarkar, 1963)। रत्नागिरी में उन्होंने दलित बच्चों को सनातनी स्कूलों में उच्च जातियों के बच्चों के साथ एक ही बेंच पर बैठाकर शिक्षा देने की नीति लागू करवाई और अछूत बच्चों को वेद-पाठ तथा संस्कृत सीखने के लिए विशेष रूप से प्रेरित किया, जो तब तक केवल उच्च जातियों का विशेषाधिकार माना जाता था (Keer, 1970)। इसके अतिरिक्त, सावरकर ने नियमित रूप से 'अंतर्जातीय सह-भोज' के व्यापक कार्यक्रमों का आयोजन किया, जहाँ समाज की सभी जातियों के लोग एक ही पंक्ति में बैठकर एक साथ भोजन करते थे। सावरकर (1967) का यह अकादमिक और व्यावहारिक तर्क था कि रोटीबंदी और स्पर्शबंदी को समाप्त किए बिना हिंदुओं के भीतर उस मानसिक समरसता का विकास हो ही नहीं सकता, जो एक आधुनिक राष्ट्र-राज्य के निर्माण के लिए आवश्यक है।

सावरकर की इस सामाजिक समरसता की परियोजना का अंतिम और दीर्घकालिक लक्ष्य पूरी तरह से भू-राजनीतिक और राष्ट्रवादी था। वे भली-भांति समझते थे कि ब्रिटिश औपनिवेशिक नीतियां और तात्कालिक सांप्रदायिक राजनीति हिंदू समाज के आंतरिक विखंडन का लाभ उठाकर देश की जनसांख्यिकी को बदलना चाहती थीं (Sharma, 2003)। यदि समाज के शोषित और अछूत वर्गों को हिंदू व्यवस्था के भीतर न्याय और समानता नहीं मिलेगी, तो वे अपमान और शोषण से तंग आकर व्यापक स्तर पर धर्म परिवर्तन की ओर अग्रसर होंगे, जिससे अंततः हिंदू राष्ट्र की संख्यात्मक और राजनीतिक शक्ति पंगु हो जाएगी (Sampath, 2021)। अतः, सावरकर के लिए अस्पृश्यता का पूर्ण उन्मूलन और दलित वर्गों को मुख्यधारा में शामिल करना 'हिंदू संगठन' को सुदृढ़ करने और राष्ट्र की सीमाओं व जनसांख्यिकी की रक्षा करने की एक रणनीतिक अनिवार्यता थी (Misra, 2020)। इस प्रकार, सावरकर का यह अस्पृश्यता विरोधी आंदोलन केवल अतीत की रूढ़ियों के खिलाफ एक युद्ध नहीं था, बल्कि वह एक आधुनिक, एकीकृत, समरस और बाहरी आक्रमणों के खिलाफ सैन्य रूप से अभेद्य राष्ट्र-निर्माण की सुविचारित आधारशिला थी (Bhatt, 2001)।

स्त्री, समाज और राष्ट्रवाद

सावरकर के स्त्री-विषयक विचारों की उपेक्षा की गई है, परंतु उनके मूल लेखों का पाठ्य-मूल्यांकन यह दर्शाता है कि वे महिला शिक्षा और उनकी शारीरिक व मानसिक सुदृढ़ता के प्रबल समर्थक थे (Bakhle, 2015)। उनका

मानना था कि महिलाओं की अशिक्षा और उनका सामाजिक अलगाव हिंदू राष्ट्र के सामूहिक पतन का एक मुख्य कारण था। सावरकर के अनुसार, एक तार्किक और साहसी माता ही राष्ट्र के लिए योग्य, देशभक्त और पराक्रमी नागरिक तैयार कर सकती है (Keer, 1970)। इसलिए, महिला शिक्षा सावरकर के लिए केवल व्यक्तिगत विकास का माध्यम नहीं थी, बल्कि वह राष्ट्रवादी नागरिकता के सुदृढ़ीकरण की एक अनिवार्य सामाजिक और रणनीतिक आवश्यकता थी।

सावरकर ने भारतीय इतिहास की पारंपरिक 'सती' या 'त्यागमयी नारी' की रूढ़िवादी छवि के स्थान पर 'वीरांगना आदर्श' को प्रतिपादित किया। वे महिलाओं को राष्ट्र की रक्षा में सक्रिय सहभागिता निभाने वाली एक संप्रभु इकाई के रूप में कल्पित करते थे (Sampath, 2021)। सावरकर (1967) ने अपने ऐतिहासिक ग्रंथों में ऐतिहासिक महिला पात्रों के सैन्य नेतृत्व और अदम्य साहस को हिंदू समाज के सामने एक आदर्श के रूप में प्रस्तुत किया। वे चाहते थे कि आधुनिक भारतीय नारियाँ केवल गृह-कार्यों में निपुण न हों, बल्कि वे शारीरिक रूप से सुगठित हों, लाठी और अस्त्र-शस्त्र चलाना सीखें, और आवश्यकता पड़ने पर युद्ध के मैदान में राष्ट्र की संप्रभुता के लिए शत्रु से लोहा ले सकें (Savarkar, 1971)। सावरकर का यह 'वीरांगना आदर्श' उनके 'हिंदुओं के सैन्यीकरण' के वृहद एजेंडे का ही एक अभिन्न अंग था। वे सेना और आत्मरक्षा के क्षेत्रों में महिलाओं की सक्रिय भूमिका के पक्षधर थे, जो उस दौर के रूढ़िवादी और सनातनी तत्वों के लिए एक अत्यंत क्रांतिकारी और विचलित करने वाला विचार था (Jaffrelot, 1996)।

सावरकर (1963) की जनसांख्यिकीय चेतना महिलाओं की भूमिका को 'हिंदू संख्याबल' की रक्षा से भी जोड़ती थी। वे इस बात को लेकर अत्यधिक चिंतित थे कि विदेशी आक्रमणों और सांप्रदायिक दंगों के दौरान हिंदू महिलाओं का अपहरण और धर्मांतरण किया जाता था, जिसने हिंदुओं की जनसांख्यिकीय शक्ति को कमजोर किया (Sampath, 2021)। इस भू-राजनीतिक संकट का सामना करने के लिए वे महिलाओं को हथियारों से लैस और मानसिक रूप से उग्र बनाना चाहते थे। इस प्रकार, सावरकर का जेंडर डायनेमिक पुरुषत्व और सामरिक राष्ट्रवाद के सिद्धांतों से गहराई से अनुप्राणित था (Bhatt, 2001)। महिला उत्थान को उन्होंने समुदाय की संगठनात्मक क्षमता, सामाजिक सुदृढ़ता तथा हिंदू राष्ट्र की दीर्घकालिक सुरक्षा और स्थायित्व से संबद्ध किया। फलतः उनकी सामाजिक दृष्टि में महिला सशक्तीकरण एक स्वतंत्र उदारवादी परियोजना के बजाय राष्ट्रवादी पुनर्संरचना की व्यापक रणनीति का अभिन्न तत्व बनकर उभरता है (Misra, 2020)।

तर्कवाद, विज्ञानवाद और आधुनिक राष्ट्र

विनायक दामोदर सावरकर के सामाजिक-राजनीतिक दर्शन का सबसे प्रखर, आधुनिक और बौद्धिक रूप से उद्दाम पक्ष उनका तर्कवाद और विज्ञानवाद है। सावरकर को प्रायः एक पारंपरिक, रूढ़िवादी या पुनरुत्थानवादी दक्षिणपंथी विचारक के रूप में फ्रेम करने का प्रयास किया जाता रहा है जबकि, उनके मूल लेखों का पाठ्य-मूल्यांकन यह प्रमाणित करता है कि वे अपने दौर के सबसे मुखर अंधविश्वास-विरोधी और कट्टर वैज्ञानिक दृष्टिकोण के पैरोकार थे (Bakhle, 2015)। सावरकर (1963) ने स्पष्ट और अकाट्य शब्दों में यह घोषणा की थी कि जो भी

समाज या राष्ट्र मध्ययुगीन धार्मिक अंधविश्वासों, अप्रासंगिक स्मृतियों और सड़े-गले धर्मग्रंथों के आदेशों को 'सनातन' और 'अपरिवर्तनीय' मानकर चिपका रहता है, इतिहास की क्रूर और आधुनिक धारा उसे मलबे में तब्दील कर देती है। उनका मानना था कि बुद्धिप्रामाण्यवाद ही मनुष्य की प्रगति की एकमात्र कसौटी है। सावरकर (1970) का यह दृढ़ मत था कि धर्मग्रंथ मनुष्य के विकास के लिए बने हैं, मनुष्य धर्मग्रंथों के लिए नहीं बना है। यदि किसी प्राचीन ग्रंथ, श्लोक, स्मृति या मनु के विधान में मनुष्यों के बीच जन्म के आधार पर भेद किया गया है, अस्पृश्यता को बढ़ावा दिया गया है, या वह विज्ञान की कसौटी पर खारिज होता है, तो उसे बिना किसी हिचकिचाहट के इतिहास के कूड़ेदान में फेंक दिया जाना चाहिए (Keer, 1970)।

सावरकर का यह विज्ञानवाद उनके राष्ट्रवाद की अवधारणा से अविभाज्य रूप से गुंथा हुआ था। वे भली-भांति समझते थे कि ब्रिटिश औपनिवेशिक सत्ता भारत पर इसलिए राज करने में सफल रही क्योंकि उसके पास आधुनिक विज्ञान, उन्नत तकनीक, तार्किक सामाजिक संगठन और श्रेष्ठ सैन्य उपकरण थे (Jaffrelot, 1996)। यदि हिंदू समाज को इस औपनिवेशिक दासता से मुक्त होना है, तो उसे अपने चमत्कारों, अंधविश्वासों और पोथी-पुराणों के संसार से बाहर निकलना होगा। इसी संदर्भ में सावरकर ने गाय के प्रति पारंपरिक हिंदू समाज के दृष्टिकोण पर अत्यधिक तीखा और व्यावहारिक प्रहार किया। उन्होंने स्पष्ट लिखा कि गाय कोई पूजनीय देवता या ३३ करोड़ देवताओं का वास-स्थल नहीं है, बल्कि वह केवल एक अत्यंत उपयोगी चतुष्पाद पशु है (Savarkar, 1963)। उन्होंने हिंदुओं को इतिहास का उदाहरण देते हुए चेतावनी दी कि गाय को 'माता' या भगवान मानने के अंधविश्वास के कारण ही कई युद्धों में विदेशी आक्रमणकारियों ने गायों को ढाल बनाया और हिंदुओं ने हथियार डालने का आत्मघाती निर्णय लिया। सावरकर (1967) के अनुसार, किसी पशु की पूजा के कारण राष्ट्र की संप्रभुता को दांव पर लगाना राष्ट्रीय नपुंसकता और बौद्धिक दीवालियेपन का लक्षण है। वे चाहते थे कि हिंदू समाज पशुपालन और डेयरी उद्योग को आधुनिक, वैज्ञानिक और आर्थिक उपयोगिता के दृष्टिकोण से विकसित करे, न कि अंधश्रद्धा के वशीभूत होकर (Sampath, 2021)।

इस प्रकार, सावरकर की आधुनिकता की अवधारणा पश्चिम के अंधानुकरण पर आधारित नहीं थी, बल्कि वह एक 'वैकल्पिक आधुनिकता' का खाका खींचती थी। आधुनिकतावादी सिद्धांतों के अनुरूप, वे समाज के तार्किक पुनर्गठन, औद्योगिक विकास, आधुनिक अस्त्र-शस्त्रों के निर्माण और समुद्र यात्रा निषेध (सिंधुबंदी) जैसी संकीर्ण रूढ़ियों की पूर्ण समाप्ति के पक्षधर थे (Sharma, 2003)। सावरकर की इस वैकल्पिक आधुनिकता की सबसे बड़ी विशेषता यह थी कि इसका सामाजिक और तकनीकी ढांचा पूरी तरह आधुनिक, पश्चिमी और तार्किक था, लेकिन उसकी आत्मा, सामूहिक पहचान और राजनीतिक चेतना को उन्होंने 'हिंदुत्व' की सांस्कृतिक और ऐतिहासिक विरासत से अविभाज्य रूप से जोड़ रखा था (Bhatt, 2001)। उनके लिए तर्कवाद और विज्ञानवाद केवल व्यक्तिगत बौद्धिक विलासिता के विषय नहीं थे, बल्कि वे हिंदू समाज के भीतर की सड़ांध को साफ करने, जातियों की दीवारों को गिराने और एक आधुनिक, तकनीकी रूप से सुदृढ़ तथा बाहरी आक्रमणों के खिलाफ सैन्य रूप से अभेद्य राष्ट्र-निर्माण की अनिवार्य रणनीतिक परियोजना के मुख्य वैचारिक हथियार थे (Misra, 2020)।

सामाजिक समरसता बनाम सामाजिक न्याय

विनायक दामोदर सावरकर के सामाजिक सुधारों और उनकी राष्ट्रवादी परियोजना के वास्तविक वैचारिक विन्यास को समझने के लिए इसका महात्मा गांधी के नैतिक विमर्श और डॉ. बी.आर. अम्बेडकर के सामाजिक न्याय के सिद्धांतों के साथ एक सघन तुलनात्मक मूल्यांकन करना आवश्यक है। सावरकर का सामाजिक एजेंडे का मूल आधार 'सामाजिक समरसता' था, जिसका प्राथमिक लक्ष्य हिंदू समाज के भीतर की जातियों के मध्य व्याप्त आंतरिक दूरियों और भेदभाव को समाप्त करके उन्हें 'हिंदू' नामक एक समरूप और अभेद्य राजनीतिक व सांस्कृतिक पहचान के तहत समेकित करना था (Jaffrelot, 1996)। इसके विपरीत, महात्मा गांधी का दृष्टिकोण पूरी तरह से नैतिक, आध्यात्मिक और सनातन धर्म के भीतर 'हृदय-परिवर्तन' की अवधारणा पर आधारित था। गांधी अस्पृश्यता को हिंदू धर्म का एक विकार मानते थे और उसे मिटाना चाहते थे, परंतु वे मूल और आदर्श 'वर्ण-व्यवस्था' (गुण-कर्म आधारित श्रम विभाजन) की उपयोगिता के समर्थक बने रहे (Keer, 1970)। सावरकर ने गांधी के इस दृष्टिकोण की तीव्र आलोचना की, उनका यह प्रखर मत था कि वर्ण-व्यवस्था और जाति-प्रथा का पूर्ण उन्मूलन किए बिना छुआछूत को मिटाना व्यावहारिक रूप से असंभव है। सावरकर (1963) के अनुसार, गांधी की अहिंसा, आध्यात्मिक शुद्धता और रूढ़ियों के प्रति उदारता राष्ट्र को आंतरिक और सामरिक रूप से कमजोर कर रही थी, जबकि सावरकर का स्वयं का सुधारवाद पूरी तरह से उपयोगितावादी, तार्किक और राष्ट्रीय सुदृढ़ीकरण की सामरिक आवश्यकता से अनुप्राणित था।

डॉ. अम्बेडकर और सावरकर के बीच जाति-प्रथा की विनाशकारी प्रकृति, रूढ़िवादी स्मृतियों की सत्ता को खारिज करने, तथा अंतर्जातीय विवाह और सह-भोज को सामाजिक समता का मुख्य साधन मानने के प्रश्नों पर गहरी वैचारिक समानताएं थीं (Sampath, 2021)। डॉ. अम्बेडकर का प्राथमिक और परम लक्ष्य शोषितों का 'सामाजिक न्याय', मानवीय गरिमा, और राजनीतिक-आर्थिक सत्ता व संसाधनों का वास्तविक पुनर्वितरण था (Misra, 2020)। अम्बेडकर के लिए सामाजिक न्याय एक स्वतंत्र साध्य था; यदि हिंदू सामाजिक ढांचा दलितों को यह बुनियादी अधिकार देने में विफल रहता, तो वे उस ढांचे को पूरी तरह से त्यागने (धर्मांतरण करने) के लिए प्रतिबद्ध थे।

इसके विपरीत, सावरकर की संपूर्ण सामाजिक समरसता की परियोजना 'हिंदू राष्ट्र-राज्य' की संप्रभुता, अखंडता और हिंदू संगठन को सुदृढ़ करने के एक अनिवार्य साधन के रूप में कार्य कर रही थी (Sharma, 2003)। सावरकर के लिए जाति-उन्मूलन और दलितों को गले लगाना इसलिए आवश्यक था ताकि हिंदू समाज जनसांख्यिकीय रूप से विखंडित न हो और शोषित वर्ग अपमानित होकर ईसाई धर्म या इस्लाम की ओर अग्रसर न हों, जिससे हिंदुओं का भू-राजनीतिक नियंत्रण भारतभूमि पर कमजोर हो जाए (Bhatt, 2001)। जहाँ अम्बेडकर ने शोषितों की मुक्ति के लिए अधिकारों और वैधानिक नागरिकता पर बल दिया, वहीं सावरकर का ध्यान मुख्य रूप से सांस्कृतिक और रणनीतिक एकीकरण पर केंद्रित था। सावरकर जातियों को तोड़कर एक अखंड हिंदू पहचान तो बनाना चाहते थे, लेकिन क्या वे पारंपरिक शक्ति संरचनाओं को पूरी तरह पलटकर शोषितों को वास्तविक राजनीतिक और आर्थिक सत्ता सौंपने के लिए तैयार थे? यह वह बिंदु है जहाँ सावरकर का सुधारवाद अम्बेडकरवादी सामाजिक न्याय की कसौटी पर सीमित दिखाई देता है। इस प्रकार, सावरकर की सामाजिक समरसता का विन्यास राष्ट्रीय एकता और

बहुसंख्यकवादी सामरिक सुदृढ़ता के अधीन था, जिसने उनके समाज-सुधार आंदोलन को मानवीय गरिमा के सार्वभौमिक दावों के स्थान पर एक राष्ट्रवादी सोशल इंजीनियरिंग की अनूठी परियोजना में तब्दील कर दिया (Bakhle, 2015)।

सीमाएँ और अंतर्विरोध

विनायक दामोदर सावरकर के सामाजिक सुधारों और उनके राष्ट्रवाद के अंतर्संबंध का एक संपूर्ण और प्रामाणिक अकादमिक मूल्यांकन तब तक मुकम्मल नहीं हो सकता, जब तक कि उनकी सामाजिक परियोजना के भीतर मौजूद अंतर्निहित सीमाओं, विरोधाभासों और सबाल्टर्न व दलित दृष्टिकोणों से उभरने वाली तीखी आलोचनाओं का निष्पक्ष विश्लेषण न किया जाए। सावरकर के संपूर्ण बौद्धिक और व्यावहारिक जीवन में सबसे बड़ा ज्ञानमीमांसीय विरोधाभास उनके 'उपयोगितावादी विज्ञानवाद' और 'सांस्कृतिक राष्ट्रवाद' के मध्य देखने को मिलता है (Bakhle, 2015)। एक तरफ, सावरकर पूरी तरह से एक आधुनिक, तार्किक और कट्टर वैज्ञानिक समाज की वकालत करते हैं, जहाँ वे गाय की धार्मिक पूजनीयता को खारिज करते हैं, अप्रासंगिक स्मृतियों को इतिहास के कूड़ेदान में फेंकने की बात करते हैं और बुद्धिप्रामाण्यवाद को सर्वोपरि मानते हैं (Savarkar, 1963)। परंतु दूसरी तरफ, उनका राजनीतिक राष्ट्रवाद पूरी तरह से अतीत के प्रतीकों, प्राचीन मिथकों, महान मराठा-सिख साम्राज्यों के गौरवगान और 'पितृभू-पुण्यभू' जैसी अत्यधिक भावुक व सांस्कृतिक सीमाओं पर टिका हुआ है (Sharma, 2003)। यह द्वंद्व सावरकर के दर्शन को एक जटिल चौराहे पर खड़ा करता है, जहाँ वे समाज को आधुनिक तकनीक और विज्ञान से लैस तो करना चाहते हैं, लेकिन उसकी सामूहिक चेतना को एक विशेष सांस्कृतिक अतीत के भीतर ही बांधकर रखना चाहते हैं, जिससे उनकी आधुनिकता सार्वभौमिक न रहकर एक 'वैकल्पिक और संकीर्ण आधुनिकता' के रूप में संकुचित हो जाती है (Bhatt, 2001)।

दलित दृष्टिकोण और सबाल्टर्न इतिहास-लेखन के चश्मे से देखने पर सावरकर की सामाजिक समरसता की परियोजना की राजनीतिक सीमाएँ और अधिक मुखर होकर सामने आती हैं। सबाल्टर्न इतिहासकारों का यह बुनियादी तर्क है कि सावरकर का जाति-विरोध और अस्पृश्यता उन्मूलन का उग्र आंदोलन किसी शुद्ध मानवतावादी चेतना या दलितों के प्रति असीम सहानुभूति से उतना संचालित नहीं था, जितना कि वह तात्कालिक औपनिवेशिक जनसांख्यिकी और बहुसंख्यकवादी भू-राजनीतिक नियंत्रण को बनाए रखने की एक सोची-समझी रणनीति का हिस्सा था (Jaffrelot, 1996)। दलित विचारकों के अनुसार, सावरकर अछूतों को गले लगाने और उनके मंदिर प्रवेश की वकालत इसलिए कर रहे थे, क्योंकि उन्हें इस बात का गहरा रणनीतिक भय था कि यदि शोषित जातियों को हिंदू समाज के भीतर समानता नहीं मिली, तो वे बड़े पैमाने पर धर्म परिवर्तन करके इस्लाम या ईसाई धर्म अपना लेंगी (Sampath, 2021)। ऐसा होने पर लोकतंत्र और संख्याबल की आधुनिक राजनीति में हिंदुओं की जनसांख्यिकीय श्रेष्ठता हमेशा के लिए समाप्त हो जाती। अतः सबाल्टर्न आलोचना यह स्थापित करती है कि सावरकर के लिए दलित वर्ग एक संप्रभु मानवीय गरिमा से युक्त नागरिक के बजाय 'हिंदू संगठन' की संख्यात्मक और सैन्य शक्ति को बचाए रखने का एक रणनीतिक माध्यम मात्र बनकर रह गए थे (Misra, 2020)।

इसके अतिरिक्त, सावरकर की सामाजिक परियोजना में संसाधनों, धन और राजनीतिक शक्ति के वास्तविक पुनर्वितरण का कोई ठोस आर्थिक या ढांचागत खाका दिखाई नहीं देता, जो अम्बेडकरवादी सामाजिक न्याय की मूल मांग थी। सावरकर जातियों के बीच की सांस्कृतिक और स्पर्श संबंधी दूरियों को मिटाना चाहते थे, वे अंतर्जातीय सह-भोज और मंदिर प्रवेश के माध्यम से 'भावनात्मक एकीकरण' तो करना चाहते थे, लेकिन क्या वे हिंदू समाज की पारंपरिक उच्च-जातीय शक्ति संरचनाओं को पूरी तरह से ध्वस्त करके राजनीतिक और आर्थिक सत्ता शोषितों को सौंपने के लिए तैयार थे? जब 1937 के बाद सावरकर रत्नागिरी की नजरबंदी से मुक्त होकर हिंदू महासभा के अध्यक्ष के रूप में सक्रिय राजनीति की मुख्यधारा में आए, तब राजनीतिक विस्तार और संगठन की विवशताओं के कारण उन्होंने अपने उग्र सामाजिक सुधारों की गति को धीमा कर दिया (Keer, 1970)। उन्होंने हिंदू महासभा के भीतर मौजूद कई रूढ़िवादी, सनातनी, जमींदार और राजा-महाराजाओं के तत्वों के साथ राजनीतिक समझौते किए, जिसके कारण उनका रत्नागिरी काल का क्रांतिकारी जाति-विरोधी एजेंडा हाशिए पर चला गया (Jaffrelot, 2007)। समकालीन विमर्श में यह अंतर्विरोध यह सिद्ध करता है कि सावरकर का सामाजिक सुधार आंदोलन अंततः उनके राजनीतिक राष्ट्रवाद की प्राथमिकताओं के अधीन और संकुचित था, जहाँ बहुसंख्यकवादी राष्ट्रवादी एकता की वेदी पर सामाजिक न्याय के वास्तविक और बुनियादी ढांचागत अधिकारों को आंशिक रूप से सीमित कर दिया गया (Sharma, 2003)।

निष्कर्ष

प्रस्तुत शोध-पत्र के अंतर्गत किए गए विस्तृत और बहुआयामी पाठ्य-विश्लेषण से यह ऐतिहासिक निष्कर्ष प्रतिपादित होता है कि सावरकर का संपूर्ण सामाजिक दर्शन उनके राजनीतिक राष्ट्रवाद का कोई सह-उत्पाद या परिधीय आयाम नहीं था, बल्कि वह उनके हिंदुत्व की सामरिक परियोजना का केंद्रीय इंजन था। सावरकर ने रत्नागिरी के नजरबंदी काल (1924-1937) के दौरान जन्म-आधारित जाति-व्यवस्था के पूर्ण उच्छेद, अस्पृश्यता निवारण, पतित पावन मंदिर की स्थापना और अंतर्जातीय सह-भोजों के माध्यम से क्रांतिकारी प्रयोग किए। आधुनिकतावादी राष्ट्रवाद की सैद्धांतिक परंपरा तथा 'कल्पित समुदाय' प्रतिमान के संदर्भ में उनका विश्लेषण यह संकेत करता है कि सावरकर का लक्ष्य एक ऐसे राष्ट्र की रचना था जो साझा सांस्कृतिक पहचान, सामाजिक समेकन और सामूहिक संगठनात्मक शक्ति के आधार पर स्वयं को परिभाषित करे। इस दृष्टि से उनके सामाजिक सुधार संबंधी प्रयास व्यापक राष्ट्र-निर्माण परियोजना के अभिन्न घटक के रूप में उभरते हैं। इस वृहद लक्ष्य के लिए समाज का आंतरिक एकीकरण और मध्ययुगीन 'सात बेड़ियों' (सप्त बद्धता) का विखंडन पहली अनिवार्य सामरिक, भू-राजनीतिक और जनसांख्यिकीय शर्त थी। वे भली-भांति समझते थे कि आंतरिक रूप से विखंडित, छुआछूत से ग्रस्त और विज्ञान-विमुख समाज कभी भी आधुनिक औपनिवेशिक शक्तियों या समकालीन राजनीतिक व जनसांख्यिकीय चुनौतियों के सामने एकजुट होकर अपनी संप्रभुता की रक्षा नहीं कर सकता। इस प्रकार, उनका उग्र विज्ञानवाद, तर्कवाद, बुद्धिप्रामाण्यवाद और यहाँ तक कि गाय के प्रति उपयोगितावादी दृष्टिकोण भी इसी राष्ट्रीय सुदृढ़ीकरण की सामरिक चेतना से अनुप्राणित था।

सावरकर के दर्शन में शोषितों का उत्थान और स्त्री का 'वीरांगना आदर्श' राष्ट्र की संख्यात्मक शक्ति और बहुसंख्यकवादी भू-राजनीतिक नियंत्रण को अक्षुण्ण बनाए रखने का एक रणनीतिक साधन था। अतः सावरकर को केवल एक पुनरुत्थानवादी या दक्षिणपंथी राजनीतिक सिद्धांतकार के रूप में फ्रेम करना उनके बौद्धिक मूल्यांकन को अत्यधिक संकुचित कर देता है। वे मूलतः एक कट्टर भविष्योन्मुखी आधुनिकतावादी और उपयोगितावादी सामाजिक अभियंता थे, जिन्होंने हिंदू पहचान को पंथ और धर्मग्रंथों की अपरिवर्तनीय सत्ता से मुक्त करके इतिहास और भूगोल के धरातल पर पुनर्गठित करने का प्रयास किया।

निष्कर्षतः, यह शोध-पत्र यह स्थापित करता है कि सावरकर का हिंदुत्व दर्शन सामाजिक सुधार और स्वतंत्रता के सामरिक संघर्ष को एक ही सिक्के के दो पहलुओं के रूप में देखता था, जिसने भारतीय राजनीतिक चिंतन को एक अत्यधिक व्यावहारिक, तार्किक और जटिल 'सोशल इंजीनियरिंग' का मॉडल प्रदान किया, जो समकालीन राजनीतिक और सामाजिक विमर्शों को आज भी गहरे तक प्रभावित करता है।

संदर्भ ग्रंथ सूची (References)

1. अम्बेडकर, बी. आर. (1936). *एनिहिलेशन ऑफ कास्ट* (जाति का उच्छेद). सम्यक प्रकाशन.
2. अंडरसन, बी. (1983). *इमेजिंड कम्युनिटीज: रिफ्लेक्शंस ऑन द ओरिजिन एंड स्प्रेड ऑफ नेशनलिज्म*
3. एल्स्ट, के. (2001). *द सैफ्रन स्वास्तिका: द नोशन ऑफ "हिंदू फैसिज्म"* (द सैफ्रन स्वास्तिका: "हिंदू फासीवाद" की धारणा). वॉयस ऑफ इंडिया.
4. कीर, डी. (1966). *वीर सावरकर*. पॉपुलर प्रकाशन.
5. कीर, डी. (संपादक). (1970). *सावरकर्स सोशल रिवॉल्यूशन: स्पीचेस एंड राइटिंग्स ऑन कास्ट, अनटचेबिलिटी, एंड साइंस*, पॉपुलर प्रकाशन.
6. ग्रोवर, वी. (संपादक). (1993). *विनायक दामोदर सावरकर: पॉलिटिकल थिंकर्स ऑफ मॉडर्न इंडिया*, दीप एंड दीप पब्लिकेशंस.
7. गुप्ता, डी. (2001). कास्ट एंड हिंदूइज्म: आइडियोलॉजी वर्सेज प्रैक्टिस इन सावरकर्स थॉट्स *इकोनॉमिक एंड पॉलिटिकल वीकली*, 36(41), 3925-3931.
8. चटर्जी, पी. (1986). *नेशनलिस थॉट एंड द कॉलोनियल वर्ल्ड: ए डेरिवेटिव डिस्कोर्स*, जेड बुक्स.
9. जैफरलो, सी. (1996). *द हिंदू नेशनलिस्ट मूवमेंट एंड इंडियन पॉलिटिक्स: 1925 टू द 1990*, सी. हर्स्ट एंड कंपनी पब्लिशर्स.
10. जैफरलो, सी. (संपादक). (2007). *हिंदू नेशनलिज्म: ए रीडर*, प्रिंसटन यूनिवर्सिटी प्रेस.
11. डर्क्स, एन. बी. (2001). *कास्ट्स ऑफ माइंड: कोलोनियलिज्म एंड द मेकिंग ऑफ मॉडर्न इंडिया*, प्रिंसटन यूनिवर्सिटी प्रेस.
12. ट्रेहान, जे. (1991). *वीर सावरकर: थॉट्स एंड एक्शन*, दीप एंड दीप पब्लिकेशंस.
13. नंदी, ए. (1988). द डेमोनिक एंड द सेडक्टिव इन नेशनलिज्म: सावरकर्स सोशल साइंस, *इंडिया इंटरनेशनल सेंटर क्वार्टर्ली*, 15(1), 35-48.
14. पाउंड, आर. (1954). *एन इंट्रोडक्शन टू द फिलॉसफी ऑफ लॉ*, येल यूनिवर्सिटी प्रेस.
15. बाखले, जे. (2010). कंट्री फर्स्ट? विनायक दामोदर सावरकर एंड द राइटिंग ऑफ ए नेशनलिस्ट हिस्ट्री, *द इंडियन इकोनॉमिक एंड सोशल हिस्ट्री रिव्यू*, 47(1), 101-139. https://doi.org/10.1177/001946460904700104
16. बाखले, जे. (2015). *सावरकर एंड द मेकिंग ऑफ हिंदुत्व: ए कॉन्टेस्टेड हिस्ट्री*, प्रिंसटन यूनिवर्सिटी प्रेस.
17. बेली, सी. ए. (2012). *रिकवरिंग लिबर्टीज: इंडियन थॉट इन द एज ऑफ लिबरलिज्म एंड एम्पायर*, कैम्ब्रिज यूनिवर्सिटी प्रेस.
18. भट्ट, सी. (2001). *हिंदू नेशनलिज्म: ओरिजिन्स, आइडियोलॉजीज एंड मॉडर्न मिथ्स*, बर्ग पब्लिशर्स.
19. मराठे, ए. (1988). *द सोशल फिलॉसफी ऑफ वीर सावरकर*, कॉन्टिनेंटल प्रकाशन.

20. मिश्रा, एस. (2020). सावरकर, कास्ट, एंड द अनटचेबल्स: द रत्नागिरी एक्सपेरिमेंट्स, *स्टडीज इन हिस्ट्री*, 36(2), 211-230. https://doi.org/10.1177/0257643020959743
21. राव, वी. डी. (1973). द सोशल रिफॉर्म्स ऑफ वी. डी. सावरकर, *जर्नल ऑफ इंडियन हिस्ट्री*, 51(2), 345-358.
22. शर्मा, जे. (2003). *हिंदू हिंदुत्व: एक्सप्लोरिंग द आइडिया ऑफ हिंदू नेशनलिज्म*, पेन्गुइन बुक्स इंडिया.
23. सप्रू, टी. बी. (1945). *द सप्रू कमेटी रिपोर्ट*, बॉम्बे क्रॉनिकल प्रेस.
24. संपत, वी. (2021). *सावरकर: ए कॉन्टेस्टेड लेगेसी, 1924-1966*, पेन्गुइन वाइकिंग.
25. सावरकर, वी. डी. (1923). *हिंदुत्व: हू इज ए हिंदू?*, हिंदी साहित्य सदन.
26. सावरकर, वी. डी. (1925). *हिंदुपदपादशाही: ऑर ए रिव्यू ऑफ द मराठा हिंदू एम्पायर*, बी. जी. पॉल एंड कंपनी.
27. सावरकर, वी. डी. (1949). *एसेंशियल्स ऑफ हिंदुत्व*, वीर सावरकर प्रकाशन.
28. सावरकर, वी. डी. (1963). *समग्र सावरकर वांग्मय*, हिंदू महासभा.
29. सावरकर, वी. डी. (1967). *हिस्टोरिक स्टेटमेंट्स: वी. डी. सावरकर*, पॉपुलर प्रकाशन.
30. सावरकर, वी. डी. (1971). *सिक्स ग्लोरियस एपॉक्स ऑफ इंडियन हिस्ट्री*, एस. टी. गोडबोले, अनुवादक. वीर सावरकर प्रकाशन.
31. श्रीवास्तव, एच. (1983). *फाइव स्टॉर्मी इयर्स: सावरकर इन लंदन*, अलाइड पब्लिशर्स.